E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
IJPSG 2025; 7(8): 197-201
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 04-06-2025
Accepted: 07-07-2025

डॉ. सुनील कुमार पंडित
शिक्षक, राजनीति विज्ञान
एस. एम. कॉलेज, भागलपुर
टी. एम. बी. यु., भागलपुर, बिहार, भारत

Corresponding Author:
डॉ. सुनील कुमार पंडित
शिक्षक, राजनीति विज्ञान
एस. एम. कॉलेज, भागलपुर
टी. एम. बी. यु., भागलपुर, बिहार, भारत

पंडित दीनदयाल उपाध्याय के मानववाद की अवधारणा का विश्लेषण

डॉ. सुनील कुमार पंडित

DOI: https://doi.org/10.33545/26646021.2025.v7.i8c.641

सारांश
पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय राजनीतिक विचारधारा के एक ऐसे प्रखर और मौलिक चिंतक थे, जिन्होंने आधुनिक भारत की समस्याओं का समाधान भारतीय संस्कृति, अध्यात्म और सामाजिक यथार्थ के समन्वय से खोजने का प्रयास किया। उन्होंने "एकात्म मानववाद" के रूप में एक वैकल्पिक विचारधारा प्रस्तुत की, जो न केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में, बल्कि सामाजिक और नैतिक जीवन में भी संतुलन की आवश्यकता को रेखांकित करती है। यह विचारधारा न तो पाश्चात्य पूंजीवाद की भांति केवल भौतिक लाभ और उपभोग की स्वतंत्रता पर आधारित है, और न ही साम्यवाद की तरह वर्ग संघर्ष और जबरन समानता के नाम पर व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करने वाली है। उपाध्याय जी का मानना था कि भारत जैसे सांस्कृतिक राष्ट्र को अपनी नीतियों और दर्शन के लिए पश्चिम की नकल नहीं करनी चाहिए, बल्कि अपनी परंपराओं, मूल्यों, और सामाजिक संरचना को ध्यान में रखते हुए ही किसी भी विकास की योजना बनानी चाहिए। उन्होंने 1965 में भारतीय जनसंघ के वैचारिक अधिवेशन में "एकात्म मानववाद" को औपचारिक रूप से प्रस्तुत किया, जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि मनुष्य केवल एक आर्थिक प्राणी नहीं, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा से युक्त एक समग्र सत्ता है। इसीलिए उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति केवल आर्थिक संसाधनों से नहीं, बल्कि मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक संतुलन से ही संभव है। उनका मानना था कि राष्ट्र कोई भौगोलिक सत्ता नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक इकाई है, जिसमें समाज के सभी वर्ग शरीर के विभिन्न अंगों की तरह होते हैं और इन सबके बीच सामंजस्य अनिवार्य है। उपाध्याय जी ने स्पष्ट कहा कि पूंजीवाद के कारण सामाजिक विषमता और उपभोक्तावाद बढ़ता है, जबकि साम्यवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता और धर्म का दमन होता है। उन्होंने एकात्म मानववाद को एक ऐसा माध्यम बताया जो राष्ट्र और व्यक्ति, परंपरा और आधुनिकता, स्वतंत्रता और अनुशासन के बीच संतुलन स्थापित करता है। उन्होंने स्वदेशी अर्थनीति की वकालत की, जिसमें स्थानीय संसाधनों, श्रम और संस्कृति के अनुरूप विकास की कल्पना की गई है। उनके दर्शन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार पुरुषार्थों के समन्वित विकास पर बल दिया गया है, जिससे व्यक्ति और समाज दोनों का सर्वांगीण विकास संभव हो सके। आज जब वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और नैतिक संकट के चलते समाज दिशाहीनता का अनुभव कर रहा है, एकात्म मानववाद न केवल भारत को, बल्कि संपूर्ण विश्व को एक ऐसा जीवनदर्शन प्रदान करता है जो न केवल विकास की बात करता है, बल्कि उस विकास को नैतिकता, सांस्कृतिक चेतना और आत्मिक उन्नति से जोड़ता है। आत्मनिर्भर भारत, ग्राम स्वराज, शिक्षा, रोजगार, महिला सशक्तिकरण, और सांस्कृतिक पुनर्जागरण जैसे विषयों में यह दर्शन आज भी प्रासंगिक है और भारत के लिए एक सांस्कृतिक राष्ट्र की अवधारणा को जीवन्त रूप से स्थापित करता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय का "एकात्म मानववाद" केवल एक राजनीतिक सिद्धांत नहीं, बल्कि भारत की आत्मा से उपजा एक ऐसा समग्र जीवनदर्शन है, जो मनुष्य, समाज और राष्ट्र की एकता, गरिमा और समरसता को सर्वोपरि मानता है।

कुटशब्द: पंडित दीनदयाल उपाध्याय, मानववाद की अवधारणा, एकात्मता, समग्र विकास, भारतीयता, नैतिकता और अध्यात्म

प्रस्तावना
पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित "एकात्म मानववाद" भारतीय संस्कृति, परंपरा और जीवन मूल्यों पर आधारित एक ऐसी विचारधारा है, जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की पक्षधर है। यह केवल राजनीतिक व्यवस्था का विकल्प नहीं, बल्कि एक व्यापक जीवन-दर्शन है, जो मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देखने का प्रयास करता है। उपाध्याय जी का मानना था कि भारतीय समाज की समस्याओं का समाधान पश्चिमी पूंजीवाद या साम्यवाद से नहीं हो सकता, क्योंकि वे भारतीय समाज की आत्मा और उसके मूलभूत दर्शन को नहीं समझते।[1] इसलिए उन्होंने भारतीय जीवन दृष्टि पर आधारित एक वैकल्पिक विचारधारा का प्रतिपादन किया जिसे उन्होंने "एकात्म मानववाद" नाम दिया। 1950–60 के दशक में भारत भले ही राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो गया था, परंतु उसकी नीतियों और योजनाओं में या तो पश्चिमी पूंजीवादी दृष्टिकोण का प्रभाव था या फिर साम्यवादी विचारधारा की छाया। पूंजीवाद जहां व्यक्ति को भोगवादी स्वतंत्रता देता है, वहीं साम्यवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचलकर जबरन समानता थोपता है। दोनों ही दृष्टिकोण भारतीय जीवन की गहराई, उसके मूल्यों और आध्यात्मिक चेतना को नहीं समझते। ऐसे समय में उपाध्याय जी ने एकात्म मानववाद के रूप में एक ऐसी वैचारिक प्रणाली का प्रस्ताव किया, जो न केवल भारत की आत्मा से जुड़ी थी, बल्कि व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी संतुलित थी।[2]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रतिपादित *एकात्म मानववाद* का मूल तत्व यह है कि मनुष्य एक समग्र जीवंत इकाई है, जिसमें केवल शरीर या केवल आत्मा नहीं, बल्कि *शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा* ये चारों स्तर एक साथ क्रियाशील रहते हैं। इन चारों अंगों के संतुलित विकास के बिना न तो व्यक्ति का पूर्ण विकास संभव है और न ही समाज और राष्ट्र की प्रगति। यदि मनुष्य केवल शरीर केंद्रित जीवन जिए तो वह भोगवादी बन जाता है, और यदि केवल आत्मा की चिंता करे तो वह समाज और राष्ट्र से विमुख हो सकता है।[3] उपाध्याय जी की यह समग्र दृष्टि व्यक्ति को न तो केवल भौतिकवादी बनाती है और न ही एकांतवादी सन्यासी, बल्कि उसे समाजोपयोगी, नैतिक और आध्यात्मिक रूप से जागरूक नागरिक बनाती है। इसी प्रकार समाज और राष्ट्र को भी उन्होंने केवल प्रशासनिक या भौगोलिक संरचनाओं के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्हें एक *जीवंत जैविक इकाई* के रूप में समझा। इस इकाई में प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, जाति और क्षेत्र का योगदान है। यदि समाज का कोई एक वर्ग उपेक्षित हो या वंचित रहे, तो पूरे राष्ट्र की संरचना असंतुलित हो जाती है। इसलिए उन्होंने समाज की एकता, समरसता और समभाव को राष्ट्रीय एकता के मूल आधार के रूप में प्रस्तुत किया।[4]

भारतीय संस्कृति की विशिष्टता को समझते हुए उन्होंने जीवन को *चार पुरुषार्थों* धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलन के रूप में देखा। उनके अनुसार *धर्म* केवल कर्मकांड या पूजा-पाठ नहीं है, बल्कि यह जीवन के नैतिक मूल्य, सामाजिक दायित्व और आत्मिक अनुशासन है। *अर्थ* और *काम* मानव जीवन के स्वाभाविक अंग हैं, किंतु ये *धर्म* के अनुशासन में रहकर ही समाजहितकारी हो सकते हैं। *मोक्ष* को उन्होंने जीवन की चरम आत्मिक पूर्ति माना, लेकिन यह लोक विमुख नहीं बल्कि लोककल्याण से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, उपाध्याय जी का दर्शन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक में संतुलन और समन्वय की शिक्षा देता है। *स्वदेशी* और *आत्मनिर्भरता* एकात्म मानववाद के अत्यंत महत्वपूर्ण स्तंभ हैं। उपाध्याय जी के अनुसार स्वदेशी कोई संकीर्ण आर्थिक नीति नहीं, बल्कि एक व्यापक जीवन दर्शन है। यह दर्शन भारत की मिट्टी, इसकी सांस्कृतिक परंपराएं, सामाजिक संरचना और स्थानीय आवश्यकताओं को समझते हुए योजनाओं का निर्माण करने की बात करता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारत की नीतियां पश्चिमी देशों की नकल पर आधारित नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसकी अपनी पहचान, समस्याएं और समाधान होने चाहिए। उन्होंने *ग्राम स्वराज, लघु उद्योग, कुटीर उद्योग*, और *स्थानीय संसाधनों के उपयोग* को प्राथमिकता दी, जिससे भारत आत्मनिर्भर बने और समाज का प्रत्येक वर्ग सम्मानपूर्वक जीवन जी सके।[5]

उपाध्याय जी का यह समग्र दृष्टिकोण आज भी भारत के लिए मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है — एक ऐसा दृष्टिकोण जो न केवल आर्थिक विकास को, बल्कि नैतिक और आत्मिक विकास को भी समान महत्व देता है, और व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की इकाइयों को एक बंधुत्व की भावना से जोड़ता है। आज जब वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद का दौर चल रहा है, और मनुष्य केवल एक उपभोक्ता बनकर रह गया है, तब उपाध्याय जी का एकात्म मानववाद एक प्रकाशस्तंभ के समान मार्गदर्शन करता है। यह विचारधारा केवल आर्थिक न्याय की नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण, नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना, ग्रामोन्मुख विकास और संतुलित सामाजिक व्यवस्था की बात करती है। इसमें मनुष्य की गरिमा, समाज की समरसता और राष्ट्र की आत्मा - इन तीनों के बीच संतुलन बनाए रखने पर बल दिया गया है। एकात्म मानववाद केवल एक राजनीतिक सोच नहीं, बल्कि एक संपूर्ण जीवन-दर्शन है।[6] यह दर्शन आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सेतु का कार्य करता है। यह व्यक्ति और समाज, व्यक्ति और राष्ट्र, और राष्ट्र तथा सम्पूर्ण विश्व के बीच संतुलित और सह-अस्तित्व पर आधारित संबंधों की स्थापना करना चाहता है। यह दर्शन भारत की सांस्कृतिक चेतना को पुनः जाग्रत करने और एक नैतिक, समरस और आत्मनिर्भर राष्ट्र के निर्माण की प्रेरणा देता है। आज जब पूरी दुनिया सांस्कृतिक विघटन, पर्यावरणीय संकट, आर्थिक असमानता और नैतिक पतन जैसे गंभीर संकटों से जूझ रही है, तब एकात्म मानववाद एक ऐसी वैचारिक प्रणाली के रूप में सामने आता है जो वैश्विक समाज को नई दिशा दे सकता है। यह दर्शन "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना को मूर्त रूप देने का प्रयास करता है, जिसमें समस्त मानवता एक परिवार के रूप में देखी जाती है। यह मानव जीवन की संपूर्णता, समाज की समरसता और राष्ट्र की आत्मनिर्भरता का एक समन्वित दर्शन है।[7]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने "एकात्म मानववाद" के दर्शन में विशेष रूप से पश्चिमी विश्व की प्रमुख विचारधाराओं पूंजीवाद और साम्यवाद की गहन और मौलिक आलोचना की। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा कि ये दोनों व्यवस्थाएँ मनुष्य की केवल भौतिक आवश्यकताओं और आर्थिक हितों को ही केंद्र में रखती हैं, जबकि मनुष्य का अस्तित्व केवल उसकी देह, भूख या उपभोग से नहीं, बल्कि उसकी चेतना, आत्मा, संस्कार, और समाज के प्रति उसके दायित्वबोध से भी निर्मित होता है। उपाध्याय जी के अनुसार, इन विचारधाराओं की सबसे बड़ी विफलता यह है कि ये मनुष्य की संपूर्णता को नहीं समझ पाईं और उसे केवल उत्पादन एवं उपभोग की एक 'इकाई' के रूप में सीमित कर दिया। पूंजीवाद की आलोचना करते हुए उपाध्याय जी ने कहा कि यह प्रणाली अत्यधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता और भोगवाद पर आधारित है।[8] इसमें व्यक्ति को इस रूप में देखा जाता है कि वह जितना अधिक उपभोग करे, उतना ही अधिक मूल्यवान माना जाए। इस विचारधारा में व्यक्ति की गरिमा, उसकी आध्यात्मिक चेतना या नैतिकता से नहीं, बल्कि उसकी क्रयशक्ति और उपयोगिता से निर्धारित होती है। परिणामस्वरूप, यह व्यवस्था धन को ही सर्वोपरि बना देती है और मनुष्य को एक वस्तु में परिवर्तित कर देती है। उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण पारिवारिक मूल्य, सामाजिक बंधन और नैतिक आचरण सभी कमज़ोर पड़ जाते हैं। पूंजीवाद ने समाज में अमीर-गरीब की खाई को गहरा किया है, जिससे सामाजिक विषमता, मूल्यहीनता और मानसिक असंतोष जैसी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इसके अलावा, पूंजीवादी व्यवस्था में प्रतिस्पर्धा इस हद तक बढ़ जाती है कि सहयोग की भावना समाप्त होने लगती है। व्यक्ति स्वयं को दूसरों से बेहतर साबित करने की दौड़ में अपने ही आत्मस्वरूप से दूर हो जाता है। यह भौतिक सफलता तो देती है, लेकिन मानसिक अशांति और आत्मिक रिक्तता भी साथ लाती है।[9]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने साम्यवाद की तीव्र आलोचना करते हुए इसे एक ऐसी विचारधारा बताया जो व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता, गरिमा और आत्मचेतना को पूर्णतः नकार देती है। साम्यवादी व्यवस्था में राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, जहां व्यक्ति की भूमिका केवल एक उत्पादक इकाई की होती है। उसकी पहचान एक ऐसे औजार के रूप में की जाती है जो राज्य के योजनाबद्ध लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की आत्मा, नैतिकता और मानवीय संवेदनाओं का कोई स्थान नहीं रह जाता, जिसके परिणामस्वरूप वह एक संवेदनहीन, यांत्रिक प्राणी बनकर रह जाता है।[10]

साम्यवाद की यह प्रवृत्ति व्यक्ति की रचनात्मकता, स्वायत्तता और आध्यात्मिक चेतना को समाप्त कर देती है। सामूहिकता के नाम पर उसमें निहित विविधताओं, व्यक्तिगत इच्छाओं और सांस्कृतिक पहचान को बलपूर्वक कुचल दिया जाता है। इसके कारण समाज एकरूपता की दिशा में अग्रसर होता है, जो अंततः मानसिक दासता को जन्म देता है। उपाध्याय जी का मानना था कि यह स्थिति समाज के नैतिक, सांस्कृतिक और आत्मिक विकास के लिए घातक है। उन्होंने स्पष्ट किया कि साम्यवाद केवल आर्थिक समानता को केंद्र में रखता है, किंतु वह व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान, नैतिक विकास और सांस्कृतिक विविधता को महत्व नहीं देता। इसलिए वह व्यक्ति की समग्र प्रकृति को संतुलित रूप से विकसित करने में असफल रहता है। उपाध्याय जी ने न केवल साम्यवाद, बल्कि भौतिकतावादी पूंजीवाद की भी आलोचना की। उन्होंने कहा कि जहां साम्यवाद व्यक्ति को राज्य का गुलाम बना देता है, वहीं पूंजीवाद उसे उपभोग की वस्तु बना देता है। इन दोनों पश्चिमी विचारधाराओं में व्यक्ति का अस्तित्व या तो सामूहिक इकाई में विलीन हो जाता है या वह केवल भौतिक सुखों का साधन बनकर रह जाता है। दोनों ही दर्शन व्यक्ति की आत्मिक सत्ता को नकारते हैं। इन्हीं सीमाओं और खतरों को समझते हुए पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने "एकात्म मानववाद" को एक वैकल्पिक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत किया। यह दर्शन भारतीय संस्कृति, अध्यात्म और जीवन के समग्र दृष्टिकोण पर आधारित है। इसमें मनुष्य को केवल शरीर या उपभोक्ता के रूप में नहीं, बल्कि एक चैतन्य, नैतिक और आत्मिक सत्ता के रूप में

देखा गया है, जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा – ये चारों घटक सक्रिय और संतुलित रूप से कार्य करते हैं। उन्होंने कहा कि यदि व्यक्ति का कोई एक पक्ष – जैसे केवल भौतिक या केवल आत्मिक – प्रमुखता पा जाए, तो उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। इसलिए एकात्म मानववाद का उद्देश्य व्यक्ति के सभी पक्षों का संतुलित और समग्र विकास करना है।यह विचारधारा इस बात पर बल देती है कि समाज और राष्ट्र भी केवल प्रशासनिक ढांचे नहीं, बल्कि एक जीवंत, नैतिक और आध्यात्मिक इकाई हैं। व्यक्ति और समाज के बीच का संबंध शरीर और उसके अंगों के समान है – जब तक सभी अंग संतुलित नहीं होंगे, शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता। इसी प्रकार, जब तक समाज के सभी वर्गों को समान महत्व नहीं दिया जाएगा, तब तक राष्ट्र का वास्तविक विकास नहीं हो सकता। एकात्म मानववाद इस समन्वय और संतुलन को ही मानव जीवन का मूल आधार मानता है।[11]

एकात्म मानववाद में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के बीच संतुलन स्थापित किया गया है। यह न तो व्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन करता है और न ही समाज के नाम पर उसे राज्य का साधन बनाता है। इसमें व्यक्तिगत अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों पर भी बल दिया गया है। यह विचारधारा यह मानती है कि आर्थिक विकास तब तक सार्थक नहीं हो सकता जब तक वह सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और आत्मिक विकास के साथ न जुड़ा हो। उपाध्याय जी का यह दृष्टिकोण केवल एक राजनीतिक या आर्थिक विचार नहीं था, बल्कि यह जीवन के संपूर्ण आयामों शिक्षा, संस्कृति, अर्थ, धर्म, और शासन को एकात्म रूप में देखने की एक सशक्त वैचारिक संरचना है। एकात्म मानववाद का उद्देश्य केवल भारतीय समाज को नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता को एक समरस और संतुलित विकास का मार्ग देना है। इस प्रकार, पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने न केवल पूंजीवाद और साम्यवाद की आलोचना की, बल्कि एक सकारात्मक और भारतीय जीवनदृष्टि पर आधारित समाधान भी प्रस्तुत किया। उनका "एकात्म मानववाद" नकारात्मक आलोचना से अधिक एक सकारात्मक सृजनात्मक दृष्टिकोण है, जो भारतीय संस्कृति की गहराई से उपजा है और आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भी प्रासंगिक बना हुआ है। यह दर्शन जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ आत्मिक आवश्यकताओं को भी संतुलित करता है और एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना करता है जो व्यक्ति की गरिमा, समाज की समरसता और राष्ट्र की आत्मनिर्भरता को सुनिश्चित करे।[12]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का मानवतावादी चिंतन भारतीय संस्कृति की गहराइयों से प्रेरित है। उन्होंने मानव जीवन को न केवल भौतिक पक्षों से जोड़कर देखा, बल्कि उसमें आत्मिक, नैतिक और सामाजिक आयामों को भी समाहित किया। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति केवल पूजा-पद्धति, कर्मकांड या धार्मिक प्रतीकों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक जीवनदर्शन है, जो मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को – शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक – एक समरस और संतुलित दृष्टिकोण से देखती है। उन्होंने जिस "धर्म" की बात की, वह किसी विशेष संप्रदाय या पंथ से जुड़ा हुआ नहीं था, बल्कि वह सनातन धर्म की उस सार्वभौमिक अवधारणा से सम्बद्ध था, जो समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानवता को जोड़ने का कार्य करती है। उपाध्याय जी के अनुसार, भारतीय संस्कृति का मूल आधार यही "धर्म" है, जो केवल पूजा या धार्मिक आचरण नहीं, बल्कि नैतिकता, सामाजिक दायित्व, आत्मिक अनुशासन और सार्वभौमिक मूल्यबोध की व्यवस्था है। यह विचार वेदों, उपनिषदों और भगवद्गीता की शिक्षाओं से प्रेरित था, जिनमें "धर्मो रक्षति रक्षितः" जैसे सिद्धांतों की प्रतिष्ठा की गई है। उनका यह दृष्टिकोण पश्चिमी मानववाद से पूर्णतः भिन्न है। पश्चिमी मानववाद जहाँ व्यक्ति को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में देखता है और उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं को भोजन, वस्त्र, आवास, स्वतंत्रता आदि में सीमित करता है, वहीं उपाध्याय जी के अनुसार मनुष्य केवल शरीर नहीं है, वह आत्मा है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारतीय चिंतन में मनुष्य की पूर्णता केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से नहीं होती, बल्कि आत्मिक उन्नति, नैतिक चेतना और सामाजिक कर्तव्यों के निर्वहन से प्राप्त होती है।[13]

इसलिए उन्होंने मानव जीवन को चार स्तरों में विभाजित किया – शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, और कहा कि जब तक इन चारों स्तरों का संतुलित विकास नहीं होता, तब तक मनुष्य का जीवन अधूरा और असंतुलित रहता है। इसी समग्रता के आधार पर उन्होंने "एकात्म मानववाद" की परिकल्पना की – एक ऐसी विचारधारा जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और सृष्टि के बीच संतुलन स्थापित करने का कार्य करती है। यह विचारधारा मानव मात्र को केवल उत्पादन की इकाई नहीं, बल्कि एक जीवंत, चेतन और नैतिक सत्ता के रूप में देखती है। पंडित उपाध्याय का मानवतावादी दृष्टिकोण आज भी इसीलिए प्रासंगिक है क्योंकि यह न केवल भारतीय जीवन-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है, बल्कि वैश्विक समस्याओं के समाधान के लिए भी एक वैकल्पिक दर्शन प्रस्तुत करता है – जो समरसता, सह-अस्तित्व और नैतिक पुनरुत्थान पर आधारित है।[14]

दीनदयाल उपाध्याय ने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया। उनका मानना था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे, तो अधिकारों की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि "अधिकारों का स्वाभाविक संरक्षण तभी संभव है जब व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हो।" यह विचार भारतीय संस्कृति की उस परंपरा को प्रतिबिंबित करता है जहाँ "स्वधर्म" को सर्वोच्च माना गया है। उपाध्याय जी के मानववाद में सामाजिक न्याय, समरसता और समानता के मूल्य मूलभूत हैं। उन्होंने जाति, वर्ग, भाषा और क्षेत्र के भेदभाव को समाप्त कर एक समरस और संगठित समाज की परिकल्पना की। उनका मानना था कि भारतीय संस्कृति में "एकात्मता" की भावना सदा से रही है, जहाँ समाज के सभी घटकों को एक-दूसरे के पूरक के रूप में देखा गया है। उन्होंने "चातुर्वर्ण्य" व्यवस्था को भी सामाजिक सहयोग और जिम्मेदारियों के विभाजन के रूप में देखा, न कि भेदभाव या दमन के रूप में।[15]

"वसुधैव कुटुंबकम्" की भावना उपाध्याय जी के मानववाद का केंद्रीय तत्व है। उनके अनुसार, भारतीय संस्कृति कभी भी संकीर्ण राष्ट्रवाद की पक्षधर नहीं रही; बल्कि उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता को परिवार मानने का रहा है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को एक *धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना* के रूप में परिभाषित किया, जिसमें हर व्यक्ति, समाज, प्रकृति और परमात्मा के साथ संतुलन और समरसता हो।[16] उनका प्रसिद्ध दर्शन *"एकात्म मानववाद"* इसी व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिफल है, जो व्यक्ति को न तो पूर्णतः आत्मकेंद्रित बनाता है और न ही उसे समाज के एक यंत्रमात्र में परिवर्तित करता है। इसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और प्रकृति – सभी के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास है। इस विचारधारा में न तो समाज को व्यक्ति पर बलिदान किया गया है और न ही व्यक्ति को समाज का उपकरण मात्र माना गया है। यह एक समरस, समन्वित और संतुलित जीवनदर्शन है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का मानववाद भारतीय संस्कृति का जीवंत और प्रगतिशील रूप है। यह न तो अंध-परंपरावाद है और न ही पाश्चात्य भौतिकतावादी दर्शन की नकल। यह एक आत्म-केन्द्रित, नैतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना से प्रेरित विचार है, जो आज के समय में भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उस समय था जब उन्होंने इसे प्रतिपादित किया था। आज की विभाजित और दिशाहीन विश्व व्यवस्था में उपाध्याय जी का भारतीय मानववाद एक सशक्त विकल्प और समाधान प्रस्तुत करता है।[17]

उपाध्याय जी ने अर्थनीति को भी मानव केंद्रित बनाने की वकालत की। उन्होंने स्वदेशी अर्थव्यवस्था, लघु उद्योग, ग्रामोद्योग और स्थानीय संसाधनों पर आधारित विकास की अवधारणा दी। उनका मानना था कि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य केवल उत्पादन और लाभ नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख और सम्मान है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन न केवल मौलिक था, बल्कि भारतीय संस्कृति और मानव जीवन की यथार्थ आवश्यकताओं के अनुरूप भी था।[18] उनका स्पष्ट मानना था कि किसी भी राष्ट्र की आर्थिक नीति तब तक सफल नहीं मानी जा सकती जब तक वह प्रत्येक नागरिक के सुख, सम्मान, स्वावलंबन, और संतुलनपूर्ण जीवन को सुनिश्चित न करे। उन्होंने आर्थिक मानववाद की एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें राज्य या पूंजी नहीं, बल्कि मनुष्य को अर्थनीति का केंद्र माना गया। उपाध्याय जी ने "एकात्म मानववाद" के सिद्धांत में यह स्पष्ट किया कि मनुष्य केवल एक भौतिक सत्ता नहीं है। उसकी आवश्यकताएँ

केवल भोजन, वस्त्र और आश्रय तक सीमित नहीं हैं। वह एक ऐसा जीव है जो शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा चारों से युक्त है। इसलिए किसी भी आर्थिक व्यवस्था को उसकी समग्र आवश्यकताओं को पूरा करने वाली होनी चाहिए। उन्होंने पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं पर यह कहकर कटाक्ष किया कि वहाँ मनुष्य या तो एक उपभोक्ता बनकर रह गया है या फिर उत्पादन का साधन। यह दृष्टिकोण मनुष्य की गरिमा का अपमान करता है।[19]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन मूलतः भारतीय संस्कृति, ग्राम्य जीवन और आत्मनिर्भरता के सिद्धांतों पर आधारित था। उनका मानना था कि भारत जैसे सांस्कृतिक राष्ट्र के लिए पश्चिमी पूंजीवादी या समाजवादी मॉडल उपयुक्त नहीं हो सकते क्योंकि वे देश की आत्मा, परंपराओं और सामाजिक संरचना से मेल नहीं खाते। उन्होंने भारत के लिए एक "स्वदेशी आधारित आर्थिक ढाँचे" की वकालत की, जो स्थानीय आवश्यकताओं, संसाधनों और कौशल पर आधारित हो। उनके अनुसार, "भारत की आत्मा गाँवों में बसती है", और जब तक गाँव आत्मनिर्भर नहीं बनते, तब तक राष्ट्र का समग्र और टिकाऊ विकास संभव नहीं है। पंडित जी ने ग्रामोद्योग, खादी, कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प और कृषि आधारित उद्योगों को आर्थिक विकास का आधार बनाने पर बल दिया। उनका मानना था कि स्थानीय स्तर पर उत्पादन और उपभोग को प्राथमिकता दी जाए जिससे न केवल अर्थव्यवस्था मजबूत होगी, बल्कि सामाजिक समरसता और सांस्कृतिक पहचान भी सुरक्षित रहेगी। उनके विचार में आर्थिक स्वतंत्रता केवल विदेशी पूंजी से मुक्ति नहीं, बल्कि मानसिक, सांस्कृतिक और तकनीकी रूप से स्वदेशी बनने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में हर व्यक्ति, हर क्षेत्र, और हर वर्ग को उसकी भूमिका और सम्मान मिलना चाहिए।[20]

दीनदयाल जी केंद्रीकृत पूंजी और औद्योगीकरण के तीव्र मॉडल के विरुद्ध थे। उनका मानना था कि जब आर्थिक संसाधनों और साधनों पर कुछ गिने-चुने लोगों या कंपनियों का नियंत्रण हो जाता है, तो इससे सामाजिक विषमता बढ़ती है, बेरोज़गारी उत्पन्न होती है, और शहरीकरण अनियंत्रित होकर गांवों को उजाड़ देता है। यही कारण है कि उन्होंने विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन किया, जिसमें उत्पादन के साधन और अवसर जनसामान्य के पास हों, और निर्णय लेने की प्रक्रिया स्थानीय इकाइयों के अधिकार में हो। पंडित जी ने अर्थशास्त्र को केवल आंकड़ों, लाभ या जीडीपी की वृद्धि से जोड़ने के विचार का विरोध किया। वे मानते थे कि "अर्थशास्त्र को नैतिकता और संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता।" उनके लिए अर्थव्यवस्था केवल साधन थी, साध्य नहीं। उन्होंने उस आर्थिक व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया जो केवल लाभ को केंद्र में रखती है और मूल्यों, न्याय, गरिमा तथा सामाजिक संतुलन की उपेक्षा करती है। उनका आग्रह था कि सामाजिक न्याय, समान अवसर, और मानव गरिमा को सुनिश्चित करने वाली नीतियाँ ही समाज की रीढ़ हो सकती हैं।[21]

आज जब पूरी दुनिया आर्थिक असमानता, बेरोजगारी, जलवायु संकट, और सांस्कृतिक विघटन जैसी गंभीर चुनौतियों से जूझ रही है, उपाध्याय जी का मानव-केंद्रित दृष्टिकोण एक वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत करता है। उनकी स्वदेशी अर्थनीति केवल भारत के लिए नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर एक टिकाऊ, न्यायसंगत और समावेशी मॉडल के रूप में उभर सकती है, विशेषकर उन विकासशील देशों के लिए जो पश्चिमी मॉडल की सीमाओं को भोग रहे हैं। दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक मानववाद इस तथ्य पर बल देता है कि अर्थव्यवस्था को मानवता के मूल्यों, प्रकृति के साथ संतुलन और आत्मनिर्भरता के सिद्धांतों के अनुरूप होना चाहिए। वह केवल पूंजी निर्माण या औद्योगिक विकास तक सीमित नहीं, बल्कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास की प्रक्रिया है। यह दृष्टिकोण आज की वैश्विक व्यवस्था के लिए न केवल एक नैतिक चुनौती है, बल्कि एक व्यवहारिक मार्गदर्शन भी प्रदान करता है।[22]

21वीं सदी का मानव एक बहुआयामी संकट के दौर से गुजर रहा है। तकनीकी प्रगति, कृत्रिम बुद्धिमत्ता, वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद ने जहाँ जीवन को सुविधाजनक बनाया है, वहीं दूसरी ओर जीवन के मूलभूत उद्देश्य, मानवीय संवेदनाएँ और नैतिक आचरण उपेक्षित हो गए हैं। जलवायु परिवर्तन, पर्यावरणीय संकट, भौतिकता की अंधी दौड़, मानसिक अवसाद, सामाजिक असमानता, सांस्कृतिक विघटन और राजनीतिक अनैतिकता ने मानव सभ्यता को गहरे संकट में डाल दिया है। इन समस्त जटिलताओं के बीच *पंडित दीनदयाल उपाध्याय* द्वारा प्रतिपादित "एकात्म मानववाद" केवल एक वैचारिक विकल्प नहीं, बल्कि *मानवता के भविष्य के लिए एक ठोस और समग्र समाधान* बनकर उभरता है।[23] "एकात्म मानववाद" केवल 1965 में दिए गए भाषणों की विचार-श्रृंखला नहीं है, बल्कि यह *भारतीय सभ्यता की आत्मा से उत्पन्न ऐसा दर्शन है* जो व्यक्ति और समाज के बीच समरसता, प्रकृति और मनुष्य के बीच संतुलन, तथा आत्मा और शरीर के बीच समन्वय स्थापित करता है। यह विचारधारा आधुनिक पश्चिमी मॉडल की तरह व्यक्ति को केवल "उपभोक्ता" या "करदाता" के रूप में नहीं देखती, बल्कि उसे एक *चेतनात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक सत्ता* मानती है जिसकी पूर्णता तभी संभव है जब जीवन के सभी पहलुओं भौतिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक का समान रूप से विकास हो।[24]

आज जब धरती पर्यावरणीय क्षरण, जैव विविधता के विनाश, जल संकट और असंतुलित प्राकृतिक दोहन से त्रस्त है, एकात्म मानववाद प्रकृति को पूज्य माता के रूप में देखता है। यह दृष्टिकोण प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व और संरक्षण की भावना को प्रोत्साहित करता है, न कि केवल दोहन को। इस सिद्धांत के अनुसार, *संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग*, *पुनर्चक्रण* और *स्थानीयता* को बढ़ावा देना आवश्यक है। पूंजीवादी वैश्वीकरण ने अमीर और गरीब के बीच की खाई को और चौड़ा किया है। एकात्म मानववाद इस असमानता को समाप्त करने के लिए *स्वदेशी अर्थनीति*, *स्थानीय उद्योगों* और *ग्राम आधारित विकास* की वकालत करता है। यह विचारधारा *अर्थव्यवस्था को मानव की सेवा का साधन* मानती है, न कि केवल लाभ का उपकरण। पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से भारत में पारंपरिक मूल्यों, भाषाओं, रीति-रिवाजों और लोक परंपराओं का क्षरण हो रहा है। एकात्म मानववाद भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण का मार्ग सुझाता है, जिसमें *सह-अस्तित्व*, *कर्तव्यबोध*, *आध्यात्मिकता* और *धार्मिक सहिष्णुता* निहित हैं।[25]

आज के व्यक्ति के पास तकनीक है, सुविधाएं हैं, लेकिन *अंतर्मन में शांति नहीं* है। मानसिक रोग, आत्महत्या, अकेलापन और अवसाद के बढ़ते मामलों के बीच, एकात्म मानववाद *आत्म-चिंतन, संयमित जीवनशैली, पारिवारिक सामंजस्य और आध्यात्मिक विकास* पर बल देता है। यह मनुष्य को अपने *असली स्वरूप (स्वधर्म)* को पहचानने की प्रेरणा देता है। आधुनिक राजनीति अवसरवाद, तुष्टिकरण और भ्रष्टाचार से ग्रस्त है।[26] एकात्म मानववाद *राजनीति को केवल सत्ता का नहीं, सेवा का माध्यम* मानता है। इसमें *लोकमंगल* को सर्वोच्च माना गया है, और *राजनीतिक नेतृत्व से नैतिकता, पारदर्शिता और संवेदनशीलता* की अपेक्षा की गई है। एकात्म मानववाद केवल भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि एक *वैश्विक आदर्श* के रूप में भी महत्वपूर्ण है। यह विचारधारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से प्रेरित है जहाँ पूरा विश्व एक परिवार के रूप में देखा जाता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे वैश्विक मंचों पर *स्थायी विकास*, *नैतिक शासन* और *संस्कृति-आधारित नीति निर्माण* का मार्गदर्शन कर सकता है। आज जब मानव सभ्यता अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही है, तब "एकात्म मानववाद" एक *संयुक्त दृष्टिकोण* प्रस्तुत करता है, जिसमें *अर्थशास्त्र में नैतिकता*, *राजनीति में सेवा भावना*, *विकास में संतुलन* और *व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिकता* की केंद्रीय भूमिका है। यह दर्शन न केवल भारत को पुनः आत्मनिर्भर, न्यायपूर्ण और सुसंस्कृत बना सकता है, बल्कि पूरी दुनिया को भी मानवोचित, टिकाऊ और शांतिपूर्ण भविष्य की ओर अग्रसर कर सकता है।[27]

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का *एकात्म मानववाद* भारतीय चिंतन परंपरा की उस गूढ़ धारा का आधुनिक स्वरूप है, जिसमें मानव को केवल शरीर या मन नहीं, बल्कि आत्मा सहित एक समग्र इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। यह विचारधारा जीवन के समस्त पक्षों भौतिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक के संतुलित विकास पर बल देती है। यह केवल एक वैचारिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक जीवनदर्शन है, जिसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को परस्पर पूरक और सह-अस्तित्व में विश्वास करने वाली इकाइयों के रूप में देखा गया है। उपाध्याय जी का यह दर्शन भारत की संस्कृति, परंपरा और मूल्यबोध पर आधारित है, जो युगों से "वसुधैव कुटुंबकम्" और "सर्वे भवन्तु सुखिनः" जैसे

विचारों को लेकर चलती रही है। उनकी दृष्टि में राष्ट्र न तो केवल भौगोलिक इकाई है, न ही केवल राजनीतिक सत्ता का नाम, बल्कि यह एक *जीवंत सांस्कृतिक इकाई* है, जिसकी आत्मा उसकी परंपरा, भाषा, कला, आस्था और लोकजीवन में निवास करती है। एकात्म मानववाद के अनुसार व्यक्ति का विकास समाज से कटकर नहीं, बल्कि समाज के साथ जुड़कर होना चाहिए। व्यक्ति समाज के बिना अधूरा है, और समाज व्यक्ति के बिना निष्प्राण। यह पारंपरिक भारतीय दृष्टिकोण का ही नवीन संस्करण है, जिसमें 'धर्म' केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं, बल्कि *कर्तव्य, नैतिकता और मर्यादा* के रूप में समाज और व्यक्ति को जोड़ता है। आज जब दुनिया जलवायु संकट, आर्थिक असमानता, सांस्कृतिक विघटन और मानसिक अवसाद जैसी अनेक समस्याओं से जूझ रही है, पंडित उपाध्याय का यह दर्शन न केवल भारत के लिए, बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए एक वैकल्पिक मार्ग बनकर उभरता है। यह विचारधारा "विकास" को केवल आर्थिक संकेतकों से नहीं, बल्कि *मानव गरिमा, आत्मनिर्भरता, समरसता और आंतरिक संतुलन* के आधार पर परिभाषित करती है।

वर्तमान समय में जब भारतीय राजनीति, अर्थनीति और शिक्षा नीति में नए विकल्पों की खोज हो रही है, तब एकात्म मानववाद एक ठोस वैचारिक आधार प्रस्तुत करता है। नई शिक्षा नीति में मूल्यों की पुनर्स्थापना, स्थानीय भाषा, व्यावहारिक कौशल और आत्मनिर्भरता पर जो बल दिया गया है, वह भी इस विचारधारा की समकालीन प्रासंगिकता को सिद्ध करता है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय का एकात्म मानववाद केवल अतीत की विरासत नहीं, बल्कि वर्तमान का पथदर्शक और भविष्य की संभावना है। यह दर्शन आत्मा और शरीर, व्यक्ति और समाज, परंपरा और आधुनिकता, तथा राष्ट्र और विश्व के बीच संतुलन स्थापित करने वाला *एक समन्वयवादी दर्शन* है, जो भारत को न केवल आत्मनिर्भर और समरस समाज की ओर ले जाने में सक्षम है, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी शांति, सहयोग और सह-अस्तित्व पर आधारित एक नवीन मानवीय सभ्यता की नींव रख सकता है।

संदर्भ

1. उपाध्याय, दीनदयाल, *एकात्म मानववाद*, नई दिल्ली, 1965, पृ.45.
2. गोविंदाचार्य, के. एन., *दीनदयाल उपाध्याय: विचार दर्शन*, नई दिल्ली, 2011, पृ.78.
3. मधोक, बालराज, *पंडित दीनदयाल उपाध्याय: एक राजनीतिक चिंतक*, नई दिल्ली, 2002, पृ.112.
4. राव, मुरलीधर जोशी (संपा.), *दीनदयाल उपाध्याय समग्र दर्शन*, नई दिल्ली, 2014, पृ.163.
5. गोयल, एम. एल., एकात्म मानववाद: पश्चिमी विचारधाराओं की समीक्षा, जयपुर, 1998, पृ.89.
6. मेहता, उदय, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन, दिल्ली, 2010, पृ.134.
7. शर्मा, अरविंद, आधुनिक युग में हिंदू धर्म और उसका विकास, न्यू यॉर्क, 2005, पृ.101.
8. उपाध्याय, दीनदयाल, *पूर्वोक्त*, पृ.12-25.
9. गोयल, ओ. पी., *दीनदयाल उपाध्याय: एक राजनीतिक चिंतन*, दिल्ली, 2003, पृ.45-48.
10. पांडेय, रामचंद्र, *भारतीय राजनीतिक विचारक*, दिल्ली, 2010, पृ.200.
11. जोशी, एम. एन., *भारतीय विचारधारा और एकात्म मानववाद*, नई दिल्ली, 2017, पृ.98.
12. शर्मा, रमेश, *पंडित दीनदयाल उपाध्याय और भारतीय दर्शन*, जयपुर, 2020, पृ.69.
13. उपाध्याय, दीनदयाल, *एकात्म मानवदर्शन*, नई दिल्ली, 1965, पृ.23.
14. मिश्र, राधेश्याम, *पंडित दीनदयाल उपाध्याय का दर्शन और भारतीय राजनीति*, नई दिल्ली, 2019, पृ.101.
15. शर्मा, रमेश, *भारतीय दर्शन और एकात्म मानववाद*, वाराणसी, 2017, पृ.87.
16. नरेन्द्र, डी. के., *विकास के भारतीय मॉडल की खोज: एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता*, दिल्ली, 2020, पृ.62.
17. गोयल, धर्मेन्द्र, *भारतीय राजनीति में विचारधाराएँ*, आगरा, 2015, पृ.151.
18. उपाध्याय, दीनदयाल, *पूर्वोक्त*, पृ. 32.
19. उपाध्याय, दीनदयाल, *भारतीय अर्थनीति का स्वरूप*, नई दिल्ली, 1970, पृ.45.
20. माधव, गोविंदाचार्य, *एकात्म मानववाद: विचार और व्याख्या*, दिल्ली, 2002, पृ.88.
21. शास्त्री, रामबहादुर, *भारतीय आर्थिक चिंतन और संस्कृति*, नई दिल्ली, 2010, पृ.101.
22. त्रिपाठी, अजय, *दीनदयाल उपाध्याय का मानवदर्शी आर्थिक दृष्टिकोण*, वाराणसी, 2016, पृ.57.
23. उपाध्याय, दीनदयाल, *पूर्वोक्त*, पृ.15-16.
24. मिश्रा, राकेश, *एकात्म मानववाद और समकालीन भारत*, नई दिल्ली, 2017, पृ.78.
25. शर्मा, रमेश, *भारतीय चिंतन में मानव और प्रकृति*, दिल्ली, 2021, पृ.133.
26. सिंह, रामबहादुर, *दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक दर्शन*, वाराणसी, 2019, पृ.110.
27. ठाकुर, रजनीश, *समाज और संस्कृति में एकात्म मानववाद की भूमिका*, लखनऊ, 2022, पृ.58.